सब शून्य नहीं...



गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव

आस्था जीवन के लिये प्राणवायु है। शून्य में विराट की अनुभूति कर सकें यही हमारे लिये श्रेय भी है और प्रेय भी है। जीवन की विसंगतियों के बीच आस्था का बीज बो सकें, इसके लिये किया गया हर प्रयास सराहनीय है।

"सब शून्य नहीं" कविता संग्रह इसी धारणा का प्रस्फुटित पुष्प सा लगता है जो अपनी गन्ध से मनप्राण को स्पर्श करने की सामर्थ्य संजोये है। दर्शन और गणित में शून्य की अपनी महत्ता है। साहित्य में इसका प्रयोग एक अभिनव और सार्थक प्रयास है। कविता मात्र संवाद, अभिव्यक्ति अथवा सम्प्रेषण ही नहीं बहुत कुछ और भी है। विश्वास है कि उक्त मानक के परिपेक्ष्य में संग्रह की रचनायें सार्थक सिद्ध होंगी।

[illegible]

193

सब शून्य नहीं

गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं का संग्रह

सब शून्य नहीं



गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव

प्रयाग पुस्तक भवन
20-ए, युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद-211 002

प्रकाशक : प्रयाग पुस्तक भवन,
20-ए, युनिवर्सिटी रोड,
इलाहाबाद-211 002
फोन : 608305

संस्करण : 1996

मूल्य : पैंसठ रुपये

मुद्रक : आरती प्रिंटर्स, इलाहाबाद,
फोन : 660019

सहधर्मिणी नीरजा के लिए

दो शब्द



डॉ० जगदीश गुप्त

प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

१८१-ए/१, नागवासुकि, प्रयाग-६
दूरभाष : ६६००३५

'सब शून्य नहीं' एक आस्थाशील वाक्य है। इसे काव्य-संग्रह का नाम देना उसी के लिए संभव है जो जीवनानुभव की विविधता के बीच अपनी और अपने युग की सार्थकता खोजना चाहता है। उसी के द्वारा किया गया यह चयन कविता के प्रति उसका विश्वास प्रकट करता है। कवि चाहता है कि औरों को भी वह वैसी स्थितियों का साक्षी बनाये तथा सह-अनुभूति के स्तर पर सबको जोड़ने का सूत्र पाये। समझशीलता उसकी पहचान बने, यही अपेक्षित है।

विविधता के साथ वस्तुबोध, सजग आत्मानुभूति और व्यापक क्रियाशीलता के बीच महत्वपूर्ण लगने वाले क्षणों का आकलन इन कविताओं में निश्चय ही परिलक्षित होता है। उपयुक्त अभिव्यक्ति के साथ अनुभव की प्रामाणिकता या उसकी रुचि उसके कवित्व को सार्थक बनाती है।

शब्द-चित्रों के बीच से कुछ नया रचने की अनुभवों को स्पष्ट कहने की मिलता। उसके बाद आगाह रही है। ईमानदारी या प्रतिबद्धता देना कवि को शोभा नहीं देता या लोग कविता को ईमानदारी से जोड़ना या जोड़ना भी आवश्यक समझते हैं क्योंकि उसी का अभाव सब को साल रहा है। '[illegible]' की तरह मानवीय निष्ठा कविता की ओर विश्वास के साथ देखती है। उसे वह कदापि मृगमरीचिका नहीं मानती। कवियों के प्रथम संग्रह का नाम 'कविता-निमंत्रण' इसी मनःस्थिति को व्यक्त करता है।

'बनानी होगी आग' के साथ जिन कवि ने 'पलाश वन' 'समय,' 'कहाँ जाएँ हम' 'रोटी बेटी', 'गूँगा होने से पहले', 'बैसाखियाँ' '[illegible] सुरक्षित हो', '[illegible]', 'नये सूर्य की प्रतीक्षा' 'बिजली के खम्भे', 'बंद कोठरी' 'ऐसे जियेगा आदमी' जिन कृतियों का उल्लेख है।

कौन दे पायेगा संजीवनी
मर-मर के जीते आदमी को।
सचमुच ऐसे ही जियेगा आदमी!

'अतीत की ओर' कविता में आपबीती सच्चाई व्यक्त किया था। [illegible] हमारी अनुभव हुआ। अकेले पन का अनुभव पाते हुए भी उनके लोग

मैं बहुत अपने और पास से
कोई भी कुछ

स्पर्श नहीं कर पाते
जो यही शुरुआत है
उस प्रार्थना की
जो ज़मीन की ओर जाती है।

• प्रार्थना की बात स्वयं नयी नहीं है पर उसकी शुरुआत पर दृष्टि जाना अवश्य नया है।

कितने काव्यांश हैं जो सिद्ध करते हैं कि यह कवि अर्थों से भिन्न है। सहमते हुए काव्यानुभव को फिर से जीवन्त बनाने की चेष्टा भी कम महत्वपूर्ण नहीं होती विशेषतः जब व्यक्ति जीवन-संघर्ष में भौतिक दृष्टि से हाशिए पर पड़ती जा रही है। फिर भी काव्य-संग्रह छपते हैं तो लगता है कि कवियों की प्राण शक्ति ही उसे जीवित बनाये हुए है।

प्रभात की भांति अनास्था को निराशा में बदलने की शक्ति रखती है और सरस्वती जब जागृत होती है तो अप्रकाशित होकर भी कुछ सार्थक बोलने लगती है।

नतमस्तक होकर मैं उसकी वाणी को हर काव्यसंग्रह में भी सुन रहा हूँ और प्रार्थनारत हो आज की विसंगतियों की / जो ... सम्भावना..

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

२५।१०।५६

विषय-सूची

कुछ प्रश्न

कौन है वह?

शायद अब
आता नहीं बसन्त
पीले कपड़े पहने
फूलों की पालकी में बैठ कर,
लेकिन आता है कोई
निश्चित ही
और शायद
प्रतिदिन चुपचाप,
क्योंकि
मेरे बगीचे की
अधखिली कलियाँ
पत्तियाँ,
यहाँ तक कि घास भी
रौंदी हुई मिलती है
हर सुबह।

पता नहीं
कौन है वह?



कहाँ जाएँ हम?

क्यों लगता है
आज सब कुछ बँधा-बँधा सा
सन्दर्भहीन, बेमकसद,
विरोधाभास सा?

बहती हुई नदी
फुफकार मारकर नागिन सी
डस लेती है
बौरायी हवा को,
तानाशाह वसन्त
कैद कर लेता है
कृशकाय पियराई धूप को,
पहला मेघ आषाढ़ का
लंगड़ा हो गया है
बूढ़ा हो गया है
और
जल्लाद की तरह
खड़े हुये
बदले माहौल के
मुख पर फैले
विद्रूप को देखकर
विचलित हो रहा है
मन ही मन।
कहाँ जाएँ हम?
पाँव तो जकड़ रक्खे हैं
किसी ने पकड़कर
इतने युगों से
कि न चल पाने की
और कुछ न कर पाने की
विवशता का अहसास
सालता नहीं है हमें,
आदत बन गई है हमारी,
अकर्मण्यता में भी
परम्परा का सलीब

घसीटते हुये
छाती फुलाकर
खुश होने की,
राक्षस की भूमिका
करते कहते
अच्छी लगने लगी है
हिंसा हमें।
कुछ बचा है क्या
इस बे-मौसम के पतझर में,
सभी तो झर गये,
सभी तो मर गये –
पत्तियाँ, कलियाँ
फूल और सुरभि –
बातें यह सब
कल की
इतिहास की
बन चुकी हैं।
अब तो बचा है केवल –
तमाम अनगिनत लोगों की
अन्धाधुन्ध बोलियों
और
लोहे के जूते पहने
पाँवों से
रौंदी जाती हुई
बेजान टहनियों
और
सूखी पत्तियों की
खड़खड़ाहट से
सराबोर जंगल का
धाड़ मारता
समुद्र –
लहराता, हहराता –
क्या करें हम?
कहाँ जाएँ हम?



अभाव

कितने ही अलाव जले
धू धू कर जले,
कितनी ही बार,
स्वप्न फूल और श्रृंगार
जल कर हो गये
सभी राख,
किन्तु
यह कैसा अलाव है
जो निरन्तर ही
जला करता है
और जिसमें
चटखती रहती है
लकड़ियाँ
काले पानी की
अँधेरी दीवारों की तरह
लम्बे-भद्दे
और क्षतविक्षत
हाथ उठाए?



सुबह होने तक

मेरी आँखों के आगे से
गुजर चुका है
बहुत कुछ –
नया-पुराना
और भी गुजरेगा
बहुत कुछ –
पता नहीं क्या-क्या?

मैंने देखे हैं –
अंतड़ियों को
हथेली पर लेकर
घूमते अभिशप्त लोग,
ऋतुओं का रंग
निचोड़ कर पीती
बड़ी-बड़ी भुतही इमारतें,
हरे हरे दूर्वादल के
दुध मुँहे आकाश को
रौंदते हुये
उन्मत्त अमानुष
और
आँसू पीकर
ओंठ सीकर
चुपचाप
अकुलाती
कुलबुलाती
व्यथा की बर्फीली नदी।

किन्तु
रात के बाद
सुबह होने की
अपरिहार्यता पर

विश्वास कर
जीते रहे हम
संत्रास और उत्पीड़नों के
लम्बे, काले
टीलों वाले
जंगलों में
और झेलते रहे
मतवाले भौंरों द्वारा
ओस के पत्थरों से
घायल होते
केसर-वनों की विवशता,
कि,
शायद
सुबह होने पर
कुछ नया होगा
कुछ बदलेगा
किन्तु
कितनी सुबहें आई
और चली गई
फिर भी
सब कुछ
ज्यों का त्यों है
कहीं कुछ भी नहीं बदला।

अब भी
घाटियों में ठहरी परछाइयाँ
कोलाहल के भव्य
रथ पर बैठी बैठी
गगनभेदी स्वरों से
हमारे कानों के परदे
फाड़ रहीं हैं
और सब कुछ

जान लेने के बावजूद भी
नये नये छद्मवेश
धारण कर
फटे-पुराने
पैबन्द लगे
चीथड़े में लिपटे
हमारे शरीर को
वेधकर,
निर्वस्त्र करने की
निरन्तर कोशिश
कर रही हैं।

पता नहीं
आगे और
क्या-क्या
गुजरेगा?



क्या सचमुच?

अब भीड़ का अंधाधुंध शोर
बहुत बढ़ गया है
फैलने लगे हैं
मेरे चारों ओर
पीड़ाओं के बियाबान द्वीप
उलट-पलट कर
छटपटाने लगी है
रेंतीले तटों पर
विसंगतियों की मछलियाँ
ऐसे में
मैं नितान्त अन्तर्मुखी हो जाता हूँ
और मील दर मील
सन्नाटा बुनने लगता हूँ –
तब सुनाई देने लगती है
इस शहर के हर बन्द दरवाजे पर
दस्तक तुम्हारे आने की
और लगता है
अभी क्षण भर में
रोशनियों के नश्तर
काट डालेंगे
अँधेरे कुओं की परतों को
और सहसा
मन ही मन
मेरे दोनों हाथ
जुड़ जाएंगे
प्रार्थना की मुद्रा में
और फिर
पूर्व दिशा की ओर
देखते हुये
मैं बुदबुदाने लगूँगा ....
मैं सोचने लगता हूँ
क्या सचमुच वह
चिर-प्रतीक्षित सुबह
आने वाली हैं?

□

यंत्रणा की पगडंडियाँ

स्थितियाँ

आषाढ़ की दोपहरी में
हवा के हल्के झोंके का
पँरस भी
क्षण भर को ही सही
सुख दे जाता है,
मरुस्थल में
बवंडर बनी
हहराती
रेत की आँधी के बीच
आंखे बन्द कर
तूफान के थमने की
प्रतीक्षा भी
पल भर को ही सही
राहत दे जाती है,
किन्तु
न होने और होने की
बीच वाली
पहले और बाद वाली
यह दोनों ही
स्थितियाँ
होती हैं
उतनी ही यन्त्रणादायी
जितनी कि
आत्मघात करने की
अधूरी इच्छा के कारण
न मर पाने से उत्पन्न
अपराध लज्जा और
विवशता से त्रासित
मानसिकता।

मथती है
अकुलाहट
मन को

और
जागती है इच्छा
कई बार
बन्धनों को तोड़कर
जा उड़ने की
स्वच्छन्द आकाश में
किन्तु
उड़कर भी
भागकर भी
कहाँ हो पाते हैं
हम
सहज सामान्य
क्योंकि
जकड़ कर
हड्डियाँ तोड़ता है
हमारे भीतर का
बियाबान सन्नाटा
और घोंटता है
हमारी साँसों को
हमारी बनाई
मान्यताओं का
पाषाण पुरुष।

स्थितियों के
इसी समीकरण की
मार खाते
लाल हरे-गुलाबी
सफेद, काले मटमैले
रंग ओढ़ते बतियाते
कराहते
तड़पते
उफनते
चलते-चलते

पहुँच जाते हैं
हम
घिरती साँझ के
सलीब पर
लटकने को,
और
उतर पड़ते हैं
मर कर भी
जीवित रह पाने की
झूठी आत्मश्लाघा की
नदी में
अपनी मृत देह
नहलाने को
अन्त्योष्टि से पहले,
और फिर
ढक लेती है
जली हुई पत्तियों की राख
जीने और मरने के बीच की
द्विविधा के ताबूत में
रक्खी
हमारी लाश को।



समय

मैं देख रहा हूँ
फैल गया है विषदंश
हिंसा, घृणा, अनास्था का
समय की बुढ़ाती देह की
उभरी शिराओं में,
पीली पड़ गई हैं हथलेयाँ
हो गये हैं रक्तहीन तलवे;
डूबते हृदय की
मद्धिम धड़कनों का
इशारा पाने को
खुली पड़ी है
पथराती आँखें।
घाटियों के बीच
नदी की मटमैली चादर लपेटे
कुम्हलाती शाम,
नीड़ों को लौटती
चिड़ियो की चहचहाहट की
क्षीण होती धुन,
धूलधूसरित
क्षत-विक्षत कन्धों वाली
खामोश हवा –
यह सब
आ खड़े हुए हैं
सिरहाने उसके
चुपचाप
अन्तिम दर्शन करने
बिदाई देने
इस युग पुरुष को।

कुहासे की कटीली झाड़ियों में
दुबके-सहमें
बैठे हुये
ऋतुओं के मुरझाए आकाश के

अनगिनत टुकड़े भी
अब बतकही करते करते
थक चुके हैं
क्योंकि
अपरिचित कोलाहल के
तुमुल नाद में
खो गये हैं शब्द सारे,
परछाइयों के कटघरे में
कैद सूरज के
पोपले मुख पर
बिछी लकीरों का जंगल
और भी गहरा गया है।

लगता है
शायद,
''अब तब'' का यह क्षण
ठहर गया है
वहीं का वहीं
तमाम आवाजों
और असंख्य बाजों
के साथ गुजर रहे
किसी जलूस के
आगे-आगे
चलने वाले
गर्वोन्नत सेनानायक को
रास्ता देने के लिए।

□

समझौता

यह जरूरी नहीं है
कि जो कुछ भी हो
मेरी इच्छा के अनुरूप ही हो,
किन्तु यह भी हो सकता है
कि जो कुछ भी हो
वही मेरी इच्छा बन जाए
ताकि मैं भी,
उन्हीं लोगों की तरह
मुस्कुरा सकूँ
जिन्होंने
''हेमलाक'' पिलाकर
सच की जुबान
ऐंठ दी थी।



सच

निरर्थक चीखो मत,
इस नक्कार खाने में,
क्योंकि
नहीं जा सकेगी
तुम्हारी आवाज
इसकी दीवारें भेद कर,
सुनने ही होंगे
इसके
विविध-आयामी स्वर,
यदि
फटने लगें
पर्दे कानों के
तो बन्द कर लो
जोर से उन्हें
किन्तु
देखते रहो निरन्तर
खोलकर आंखे अपनी
हो सकता है
रात की खामोशी में
झीने पारदर्शी
परदे के पीछे
तुम देख सको
उस सच को
जिसकी तुम्हें तलाश थी।



सेतु

जंजीरों में जकड़े
कितने ही आकाश
बैठ गये हैं
कुंडली लगाकर
घर-घर की मुंडेर पर,
अस्त होते सूरज का
पिघलता सोना
डिब्बों में बन्द करती
फिरने लगी है
इतराती शाम।
शब्दों के सेतु
टूट कर गिर गये हैं
कटीले सदाबहार जंगलों में,
डर लगने लगा है
अब तो
धूप को धूप
फूल को फूल
अथवा
हवा को हवा
कहने में भी।
लोहे के कपड़े पहने
अपरिचित प्रहरी
अभी भी
लहराते रहते हैं
वही भीगा चाबुक
जिसकी
निरन्तर मार खाते,
मीलों लम्बी हमारी
लाल नालियों का लहू
पानी बन चुका है।



बिजली के खम्भे

सड़क पर खड़े हुए
बिजली के मूक खम्भे
मुझे बहुत अच्छे लगते हैं
क्योंकि
वे मात्र बिजली के खम्भे होते हैं
आदमी नहीं होते
और वृक्षों की तरह
बाहें फैला कर
पत्तियाँ गिरा कर
अपनापन नहीं जताते
अथवा
आँसू नहीं बहाते।

आँधी-पानी-बरसात में
निरन्तर खड़े हुये वे तो केवल
बिजली के खम्भे होते हैं
और मुझे कभी भी
मेरे आदमी होने का
अहसास नहीं कराते
झूठे शब्दों का इन्द्रजाल नहीं बाँटते
खुले रास्तों पर
बारूदें बिछवा कर
मुर्दा खेतों
और बियाबान गाँवों की त्रासदी पर
परिचर्चा नहीं करते।

सचमुच वे केवल बिजली के खम्भे होते हैं,
आदमी नहीं होते –
गिरगिट नहीं होते,
पानी से घिरे गाँवों में
बाढ़-नियंत्रण पर संगोष्ठी नहीं होते –

किसी विशेष मौसम में
रोटी-कपड़े पर
बहस नहीं होते
वे केवल
बिजली के खम्भे होते है
और मुझे बहुत अच्छे लगते हैं।



सपना-छलावा

तब और अब

अब तो
सपने देखना भी
नहीं लगता अच्छा
और शायद
उतनी सहजता से
आते भी नहीं सपने
जैसा कि तब आते थे
जब आधी रात को
अचानक जग जाने पर
डिठवन की अल्पना से
दमकते आँगन में
पसरी दूधिया चाँदनी
मन को कहीं भीतर तक
भिगो जाती थी,
जब कहीं
दूर बज रही शहनाई के स्वर
कानों में
अनगिनत घंटियाँ
बजाने लगते थे।

अब तो,
पीछे छूटी हुई
स्मृतियों के जंगलों को
पार करते करते
कभी कभी
हाथ पकड़ लेते हैं
कितने ही झाड़ झंखाड़
जिनके बिछौनों पर
अभी भी
हाँफते कराहते
दिखाई देते हैं

वही सुनहले दिन
वही निश्छल रातें
जब अकारण
कितने ही
मीठे कसैले
नोनखारे सपने
समूची छाती को
भर-भर कर
फुला देते थे,
और फिर तब
अनायास ही
मन भर-भर आता है
सचमुच
अब तो
सपने देखना भी
नहीं लगता अच्छा।

मेरा निस्संग अन्तरंग मित्र
मेरा वही अतीत
जब मेरे सामने ही
मेरे वर्तमान का वल्कल
उतार उतार कर
उसे नंगा करने लगता है
तब
मेरे मन के वातायन से
जवा कुसुम बनकर
झांकने लगते हैं
वे सारे के सारे पल
जब ठंढी रातों में
अलाव के इर्द गिर्द
बैठे हुये
राजा-रानी
और राजकुमारियों की

कहानियाँ कहते सुनते
पलकें भारी हो जाती थीं
या जब
वर्षा के जल से
भर जाने वाली
छोटी तलैय्या में
कागज की नाँवें
तैराने में ही
पूरा दिन बिता देना
अच्छा लगता था,
पर अब
वैसा कुछ क्यों नहीं होता
और अनायास ही
मन भर भर आता है
सचमुच
अब तो
सपने देखना भी
नहीं लगता अच्छा।

बहुत याद आते हैं –
ताप से जलती
अंगार बनी
मेरी इस काया को सहलाती
मां की उँगलियों के बीच
ठहरे आश्वस्त पल –
अथवा,
नौकरी के लिए
प्रथम वार
घर छोड़ते समय
कभी न द्रवित होने वाले
पिता की आँखों के कोनों को
भिगो देने वाले
अद्वितीय पल

कहाँ खो गये हैं
वे सारे के सारे पल?
कहाँ उड़ गये
वे दिन
जब हर सुबह
नया सूरज लाती थी
और हर शाम
नया इन्द्रजाल रचती थी,
जब सपने बुनना
और सपने देखना ही
मनो-हारी लगता था
जब कितने ही
अनगढ़ अधूरे
मीठे, तीखे सपनों के पहाड़
कन्धों पर उठाना
तृप्तिमय लगता था,
अब क्यों नहीं हो पाता है
वह सब
यद्यपि
अन्य सभी कुछ
पूर्ववत
यथावत है
क्यों नहीं लगता अब
सपने देखना अच्छा
और क्यों
अनायास ही
बात बात पर
मन भर-भर
आता है?

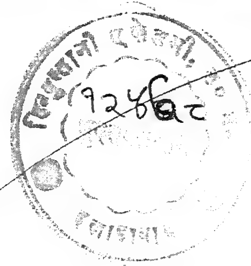


मेरी बेटी

मेरी बेटी
खेलती है खेल
गुड्डे-गुड़ियों का
और जब तब
धूम-धाम से रचाती है
व्याह उनका
सभी बच्चे खेलते हैं।
और मेरी माँ
हर शाम उसे
सुनाती है कहानियाँ
राजा-रानी की --
दानव के पास से छुड़ाकर
लाने वाले
सोने के घोड़े पर सवार
सुन्दर राजकुमार की।
मेरी माँ की माँ ने भी
सुनाई थी ऐसी ही कहानियाँ
मुझे भी मेरे बचपन में,
परन्तु
पता नहीं क्यों
मन कहीं भीतर से
काँप जाता है
यह सब देखकर,
और कई बार
सोचता हूँ
रोक दूँ अपनी बेटी को
गुड्डे गुड़ियों के खेल
खेलने से
मना कर दूँ
अपनी माँ को
राजा-रानी की कहानियाँ

सुनाने से,
और कह दूँ
अपनी बेटी से
मत पाल
रंगीन स्वप्नों के महल,
सोने के घोड़े पर सवार
राजकुमार की बात
केवल मन को
झुठलाने वाली कल्पना है,
अपना सच
जितनी जल्दी जान ले
उतना अच्छा है
नहीं तो
बँधुआ पशुओं की तरह
हाट में नीलाम होने,
मध्ययुगीन प्रथा की
लपटों में जलने,
और
गृहस्वामिनी की
सोनाली बेड़ियों में जकड़ी
घर गृहस्थी के जुये को खींचती
तिल-तिल मरने के संत्रास को
कैसे जीवन भर
जी सकेगी?

सोचता हूँ
कह दूँ अपनी बेटी से
मत खेल
मेरी बेटी
इन गुड्डे गुड़ियों से
और कह दूँ
अपनी माँ से
मत सुना



ऐसी निरर्थक कथाएँ
पर शायद,
नहीं जुटा पाता साहस
अपनी बेटी के
अनछुये स्वप्नों को
तोड़ने का
अपनी माँ द्वारा सृजित
इन्द्रजाल को
छिन्न भिन्न करने का
सम्भवतः
समय से पहले ही
बूढ़े हो जाने से
कहीं अच्छा है
छलावा बुनते हुये
भ्रम में जीना।
और
खेलती जाती है
मेरी बेटी
गुड्डे-गुड़ियों से
और सुनाती जाती है
मेरी माँ
राजा-रानी की कहानियाँ।



पलाश-वन

पलाश वन जलता है
निर्मूल आग की लपटों में –
शायद बिछा दी हैं
किसी ने बारूदी सुरंगे
चारों ओर
और जलते हुए
राज-महल की चिन्गारियों ने
भीतर ही भीतर चलकर
पकड़ ली है जड़ें –
और धू-धू पलाश-वन जलता है।

जब भी पलाश जलते हैं
मैं आशान्वित होता हूँ –
लाल रंग नया संदेश लायेगा
लहू नहीं बनेगा,
किन्तु हर बार
पलाश वन ही जलता है
और हर बार
लाल रंग लहू बन कर
सड़कों और चौराहों पर
नारे लगाता है।

कुछ थके हारे बूढ़े
और कुछ मासूम बच्चे
टकटकी लगाए देखते हैं
तांबई आसमान की ओर
क्या वर्षा होगी?



अँधेरा होने से पहले

सारा दिन
तितलियों ने
फूलों की क्यारियों में
कितने ही सेतु बाँधे –
धूप ने
पेड़ों से बदं-बद कर
आँख मिचौली खेली,
और हवाओं ने
आकाश के खुले आँगन में
रागिनियाँ बजाई,
लेकिन हमने,
सारा दिन
यूँ ही अन्तहीन बहसों
और निरर्थक तकरारों में ही
बिता दिया
और अब
बासी फूलों-सूखे दूर्वा दलों
मुरझाए तिनको और कटीली टहनियों का
एक अनगढ़ ढेर
हमारे पैरों के पास
इकट्ठा हो गया है,
जिसे अंजुरी में बीनने या
आँचल में समेटने का भी साहस
नहीं रह गया है।

और इधर
धूल उड़ाती
दिन भर की थकान उतारती
रंभाती गायें
वापस लौटने लगी हैं;
दूर बजती गिरजे की घंटियाँ

धीरे-धीरे पास आती जा रही हैं।
अब कुछ ही देर में
अँधेरा फैल जायेगा
और तब हाथ को हाथ भी नहीं सूझेगा।

उजाला कब फिर होगा
इसे मैं, तुम या वे –
कोई भी नहीं जान पाएगा;
और जब होगा भी
तब नई तख्तियों पर
नई इबारतें और नये पहाड़े
उतारने में व्यस्त
क्या कभी पहचान भी सकेंगे
एक दूसरे को हम?
काश! ऐसे में
तुम्हारा परिचित हाथ
मेरे हाथों में होता!



तुम सुरक्षित हो!

जब भी चाहा
जहाँ तक चाहा
तुमने मेरे उपभोग किया
मेरे कंधों से
जुए बाँधकर
अपने विशाल खेतों में
मुझे बार-बार दौड़ाया,
किन्तु भूख से विवश हो
हाथ फैलाने पर
मेरी पीठ पर
कोड़ा बरसाया
इस पर तसल्ली न हुई
तब जलते हुये अंगारों पर
मुझे नंगे पाँव चलवाया
ताकि मैं
उसी सच को सबके सामने दोहराऊँ
जिसकी सृष्टि तुमने की थी।

यदि मैं मर जाता
तो तुम
मेरी लाश के पास खड़े होकर
आठ-आठ आँसू बहाते
और जनसेवा के लिए
शहादत देने वाले
अगणित अनाम आदमियों की
फेहरिस्त में मेरा भी नाम
दर्ज कर लेते,
लेकिन मैं मरा नहीं
जीवित हूँ
और कदाचित कभी
मरूँगा भी नहीं –
मैं फिर फिर आऊँगा
बार-बार आऊँगा
तुम्हारे खेतों में

खटने के लिए
तुम्हारे हाथों से बेसबब
कोड़े खाने के लिए
और अपनी अग्नि परीक्षा में
जब-तब उतरने के लिए।
पर जरा सोचो
कहीं ऐसा न हो कि
उलटकर एक दिन मैं
जुआ तुम्हारे ही सर पर
पटक दूँ
या फिर,
तुम्हारे हाथों से कोड़ा छीनकर
तुम्हारे ऊपर बरसाने लगूँ
और फिर
सबके सामने
तुम्हें भी
बिल्कुल नंगे निस्सहाय होकर
अंगारों पर चलने को
विवश कर दूँ।

लेकिन
घबराओ नहीं
शायद मैं ऐसा कुछ भी
कभी भी नहीं कर पाऊँगा
क्योंकि मेरी रगों में
सदियों से
ठंढा लोहा बहता आया है
जो मुझे चुपचाप
यन्त्रणा का हलाहल
पीते रहने पर
विवश करता रहा है,
इसलिए
हे नर-पुंगव
तुम सुरक्षित हो,
निश्चिन्त हो
अभय हो।



वैसाखियाँ

तुम्हारे आहत स्वाभिमान को
उन्होंने बार बार कुरेदा है
सत्य की नई नई परिभाषाओं की
स्पाती कुदालों से
और शायद
आगे भी कमोवेश
ऐसा ही होता रहेगा,
किन्तु
अपनी वैसाखियों पर
झुंझलाने के सिवा
क्या कोई अन्य विकल्प
ढूँढ़ने की कोशिश की है
तुमने अभी तक?
फेंक सकते हो इन्हें
और सीधे खड़े होकर
माँग सकते हो
अपने लिए
और अपने कुनबे के लिए
मात्र जीने का अधिकार?

लेकिन नहीं
मैं जानता हूँ
तुम कोशिश ही नहीं करोगे
क्योंकि
तुम्हारे मन के भीतर
यह नपुंसक विश्वास
बैठा हुआ है कि
एक दिन कहीं से
कोई आएगा
और तुम्हें
तुम्हारी वैसाखियों के कारावास से

मुक्ति दिलाकर
लड़ता-लड़ता स्वयं मर जाएगा
और तुम
उसकी शहादत के गीत गाते हुये
अपनी अचिर-जीवी स्वतंत्रता का
उपयोग करते फूले नहीं समाओगे
बिना यह देखे हुये कि तुम्हारे कंधों के नीचे
फिर किसी ने चुपचाप
नई वैसाखियाँ
टिका दी हैं।



नीव में दबी ईंटें

चलो कहीं और चलें

सड़क

चलो कहीं और चलें

ओस भीगे स्वप्नों की
पंखुड़ियाँ अब
बिखरने लगी हैं
चलो कहीं और चले।

टुकड़ा टुकड़ा आकाश
हवाओं के मस्तूल के नीचे
कुचला दबा जाता है,
लौटती लहर के साथ
पाँवों के नीचे
सरकती है रेती
अनायास,
चलो कहीं और चलें।

धुंवाई शाम का
गीलापन
कहीं बहुत भीतर तक
भिगो जाता है,
मेरे मन को,
पड़ाव छोड़ने की पीड़ा
शूल सा चुभ जाती है;
अनजाने में शब्दों का अर्थ
अब कुछ और
निकलने लगा है;
चलो कहीं और चलें।

पावस की
कंटकाकीर्ण शय्या पर
धूप कुलबुलाने लगी है;
बोझिल परिचय
घिसट घिसट कर
केंचुली छोड़ने लगा है;

नाव जहाँ बाँधी थी
वह तट भी
अब डूबने लगा है
चलो कहीं और चलें।

स्पर्शों की कोपलें
लावा उगलने लगी हैं
ठंढे खून का,
मेंहदी की गंध
रात-रात भर
दावानल सी
दहकने लगी है
सूने धुंध भरे
गलियारे में,
अनुत्तरित प्रश्न अब
अनचाहा उत्तर सा
दिखने लगा है;
चलो कहीं और चलें।

हमारी-तुम्हारी बात
गली के मोड़ पर
तुड़ी-मुड़ी गठरी सी
उपेक्षित पड़ी दिखाती है,
हासपरिहास
आँसू और मुस्कान
भूमिका की तलाश में
सूत्रधार के सामने
नतमस्तक खड़े दिखते हैं,
और उधर
मुखौटे पहने
लोहे के महादानव
बड़े-बड़े मंचों पर
सत्य और प्रेम की

व्याख्या करने लगें हैं,
चलो कहीं और चलें।

नेत्रविस्फारित
हतप्रभ मृगछौने
कुलाचों का दिवास्वप्न
देखने को तरसने
कलपने लगे हैं,
क्योंकि
स्फुलिगों से चकाचौंध
इस अरण्य की
धमनियों का लहू
मार मार कर
सोख लिया है
बेमौसम की
बारूदी बारिश ने,
ठहर कर कभी जहाँ
जी भर पानी पिया था
उस झील में अब
ज़हर घुलने लगा है
चलो कहीं और चलें।

आग लग चुकी है
चारो ओर,
शोर भी
उठने लगा है
घबराये हुए लोगों की
बस्तियों से,
और चटखने लगी हैं
लकड़ियाँ तड़-तड़,
फिर भी
दरवाजे खिड़कियाँ
बन्द कर
घर के भीतर

बैठे बैठे
सुरक्षित आश्वस्त
रहने का दम्भ हमें
गुब्बारे सा फुलाने लगा है,
यात्रा जहाँ से
शुरू की थी
वह पगडंडी भी
अब मिटने लगी है;
चलो कहीं और चलें।

उखड़ी हुई सांसो वाला दिन
जर्जर धूप की उंगली पकड़े
उतर जाता है
मटमैली झील के भीतर,
सनसनाती हवा
टपटप आँसू ढारती
सर पटकती है
शाम के कांधे पर;
और बघनखे पहने
उन्मत्त नर-भक्षियों का झुण्ड
निकल पड़ता है
मृगया के लिए,
अब तो
पत्तियों डालियों व गुफाओं में
छुपा हुआ सन्नाटा भी
मुखबिर बन कर
नये नये
षडयंत्र रचने लगा है;
चलों कहीं और चलें।

फाहा बन कर रुई का
उड़ने लगा है यत्र तत्र
कनेर पर सुस्ताती
ओस का आँचल,
तार-तार हो कर
बिखरने लगी है

फुनगी पर बैठे
चक्रवाक की एकाग्रता;
नुकीले नाखूनों से
दुधमुही सुबह नोचती है
सुगबुगाई धूप के बादल,
टांग दिये थे
यातनाओं के कथ्य
जिन पर
वे दीवारें अब
ढहने लगी हैं,
चलो कहीं और चले।

पिंजरो और सींकचों का पहाड़
बढ़ने लगा है
सुरसा के मुख की तरह,
हथकड़ियों और बेड़ियों की
भयावनी खड़खड़ाहटें
भर रही हैं चारों ओर,
अपने हाथों बनाए
अपने ही घर की
दीवारों का बोझ
चुभने लगा है
नींव में पड़ी
दबी कुचली ईटों को;
सासों के सपने
बिछा दिये थे जिन पर,
वे सीढ़ियाँ अब,
खिसकने लगीं हैं;
चलो कहीं और चलें।

हमारे ऊपर से
एक सैलाब
गुजर गया है

हँसी कहकहों की
आतिशबाजियो का
जो छोड़ गया है
दु:खान्त नाटक के
मध्यान्तर की
क्षणिक आजादी;
और अब
हमारे और तुम्हारे बीच की
कटीले पत्थरों वाली
समानान्तर नदी
फिर साफ दिखने लगी है;
चलो कहीं और चले।

मौसम की करवट
अब स्पष्ट सुनाई देती है
इस सन्नाटे में,
नफरत के टीलों से
गिर रहे हैं शोले
हरहराते काले जल में,
रख दिये थे
अपने सारे पारदर्शी विश्वास
सच और झूठ की
जिस सीमा रेखा पर
वह अब टूटने लगी है;
चलो कहीं और चलें।



सड़क

मेरे भीतर कहीं
एक लम्बी सड़क है
जिस पर मैं
यदाकदा
बहुत उदास हो जाने पर
जल्दी-जल्दी
डग भरता हुआ
चक्कर लगाया करता हूँ।
कुछ बोलती नहीं
कभी भी यह सड़क,
बस केवल
कभी कभी
अपने दोनों किनारों पर
उग आये पेड़ों में से
किसी एक की
कोमतलतम पत्ती से
मेरे कन्धों के कोने
छू देती है
अथवा
कभी कभी
बहुत दुलार में आकर
धूल-मिट्टी से सने अपने हाथ
मेरे दुखते हुए मस्तक पर
रख देती है।

बड़ी अद्‌भुत है
यह सड़क
जो पल भर में
रिमझिमी बरसात की तरह
सामने आ खड़ी हो जाती है
और तब वह,

ज्योति बिखराती हुई
मोती लुटाती हुई
अप्सरा सी लगने लगती है
लेकिन
वही सड़क
पलभर में
कहीं ऐसे छिप जाती है
कि लाख यत्नों के बाद भी
ढूढ़े नहीं मिलती
और तब वह
अन्धी निर्जीव सुरंग सी
लगने लगती है।

सचमुच
बड़ी विचित्र है यह सड़क
पता नहीं
स्रोत कहाँ है इसका
और मैं जानना भी नहीं चाहता
क्योंकि
इसके होने से
मुझे अपने जिन्दा रहने का अहसास
निरन्तर होता रहता है,
मेरा सच
यह लम्बी सड़क है
जो कहीं मेरे भीतर रहती है।



मुखौटों का विद्रोह

उनके प्रश्न

मेरा कुरुक्षेत्र

मैं

शब्द

उनके प्रश्न

वे उतर आये हैं
पहाड़ों के शिखरों से
फिर एक बार
और छा गये हैं
टिड्डियों की तरह
घाटियों-तलहटियों में
मैदानों-खेतों में
कस्बों-नगरों में
दूकानों-बाजारों में
बाजों-गाजों के साथ
हाथ उठाए
वज्र से चक्र घुमाते
घंटे घड़ियाल बजाते
बहुरंगी पताकाएँ फहराते।

हवाओं में तैरती हैं
राजनीति के आँवे में
पके हुये वाणों की
नयी-नयी आवाजें,
होने लगा है गुणा-भाग
राम और रहीम का
चली जाने लगी हैं
तुरुप चालें
दलितोद्धार की,
बटने लगी है संजीवनी
स्थायित्व और एकता की
फेंके जाने लगे हैं कौरे
रोजी-रोटी के,
और उधर
आ खड़ी हुई है
एक अपार भीड़
निःशब्द-निस्पंद,

जिसमें शामिल
दिखाई देते हैं
अनगिनत इन्सान –
भूख के अलावों में
झुलसे हुये
समय से पहले
बूढ़े हो जाने वाले
जेठ की तपती दोपहरी में
बोझा ढोने वाले
नैसर्गिक विपदाओं से त्रस्त
बेघर फटे-हाल
शिक्षित, बेरोजगार
सर्वहारा, बुद्धिजीवी –
क्षुब्ध, असन्तुष्ट
आन्दोलित
किन्तु
नपुंसक मानसिकता वाले।

केवल निहारते हैं वे
इस नयी फौज को
और सुनते हैं
इनकी कर्णभेदी दुहाइयाँ
परन्तु,
चींटियों की तरह
रेंग रहे हैं अनुत्तरित
बहुत सारे प्रश्न
पसीने से चुहचुहाते
रक्तहीन झुके हुये
उनके शरीरों पर।
पहले ही पड़े हैं
भाई कितने ही
धराशायी मूर्छित
विषैला पानी पीकर
मायावी झील का

क्या कोई युधिष्ठिर
निकल कर बाहर
कभी आयेगा
इस फौज का अनुशासन
तोड़कर,
देने को उत्तर
उनके प्रश्नों का?



मेरा कुरुक्षेत्र

मेरी आकांक्षाओं के
अभिशप्त टीलों को
सीढ़ियाँ बना कर
सफलता और प्रतिष्ठा के
शिखरों की गगनचुम्बी उँचाइयों पर
चढ़ चुके हो तुम
निस्संकोच
कितनी ही बार
और वहीं खड़े खड़े
अपनी वरदायिनी मुद्रा से
प्रलोभित किया है तुमने
क्षुधा और पिपासा के
बेशर्म मृगशावकों को।

कितनी ही बार
तुम्हारे ही द्वारा पोषित
आस्थाओं के महासमुद्रों को
अगस्त्य बन कर
तुम्हीं ने सोख लिया है
और
लांछित-अपमानित किया है
मेरी जन्मजात
स्वभावगत विवशताओं को।
अब तो,
नरकंकाल बना मैं
समानधर्मा
साथियों की
अस्थियों के जलते हुए
फूलों को लेकर
भटक रहा हूँ

तुम्हारे द्वारा ही सृजित
इस कालजयी कुरुक्षेत्र को
समर्पित करने को
शायद
महाभारत अभी
समाप्त हुआ नहीं है।



मैं

"जावो" कह देने से ही
वह चला नहीं जायेगा
क्योंकि
दिन भर खड़े कह कर
शोर मचाते रहने की
उसकी आदत बन गई है
और जब तक कुछ पा नहीं जायेगा
वहाँ से हिलेगा नहीं।
मैं भी पछताता हूँ
कि नाहक
भिखारियों की गिनती में
एक गिनती क्यों
और जोड़ दी,
बचपन के दिनों को कोसता हूँ
जब माँ से छिपा कर
उसे अपने हिस्से की
बासी रोटियाँ खिलाया करता था
और कड़ाके की ठंड से
बचने के लिए
पिता की पुरानी धोती
उसे दे दिया करता था
और वह भी
कभी कभी
उल्लास में भर कर
मुझे गाना सुनाया करता था।

पर अब
समय कहाँ और किसके पास है
उसे कुछ देने का
अथवा
उसकी ओर ध्यान देने का?

सुबह से शाम तक –
आपा-धापी
चाय-नाश्ता
स्कूटर-बसों की लम्बी कतारें
आदमियों का झुंड
सभा-बैठकें
मांग-पत्र-धरना-हड़ताल
आश्वासन-बयान
ईंट-सीमेंन्ट-मकान
सट्टा-बाजार
बँधुआ मजदूर
नारी-शोषण
समाजवाद
प्रेस स्वातंत्र्य –
और इन सबके बीच
स्वयं को जीवित महसूस
कर पाने की विफल कोशिश।

क्या वह नहीं जानता
कि दुनियाँ अब
बहुत बदल गई है?
खुला आसमान,
कलकल बहती नदी
चुप्पियाँ ओढ़े पहाड़
फूलों और तितलियों की गुपचुप
पंख फैलाए पक्षियों की उड़ान
नहीं बांध पाते हमें;
क्या वह नहीं जानता कि
दुनियाँ अब बहुत बदल गई है?
माँगने और देने का
दस्तूर बदल गया है।
पर कौन समझायेगा उसे
और वह खड़ा रहेगा वैसे ही

और जोर से "जावो" कह देने पर भी
नहीं जायेगा
मैं कठोर भी नहीं हो पाता हूँ
कि धक्के मार कर निकाल दूँ
क्योंकि
मैं उसे बचपन से जानता हूँ
पहचानता हूँ
मेरा पुराना साथी है,
और वह भी
खड़ा रहता हैं
शोर मचाता रहता है।

पास पड़ोस के लोग
जो मेरे हितैशी हैं
और उसके जब-तब
आ धमकने से त्रस्त हैं
और जिनमें से कई
उसे पागल भी समझते हैं
पत्थर मार मार कर
उसे भगा देते हैं।
वह चुपचाप
सिर झुकाए जाने लगता है,
मैं भी पीछे
अपने काम पर निकलता हूँ;
वह एक बार मुड़ कर
मेरी तरफ
आशा भरी आँखों से देखता है
मैं स्तम्भित हो जाता हूँ
क्योंकि वह मेरा ही
लहुलुहान चेहरा है।



शब्द

शब्द
सपाट होते हैं
जाड़े की धूप की तरह
बिल्कुल बेलाग होते हैं।
अक्षरों का लिवास पहने हुये
वे केवल शब्द होते हैं –
छोटे शब्द –
बड़े शब्द
भारी भरकम शब्द –
जिन्हें हम
अपनी-अपनी तरकशों से
चुन-चुन कर
निकालते रहते हैं
और जब तब
यत्र-तत्र फेंकते रहते हैं
कहीं आग लग जाती है
कहीं मेह बरसने लगता है।

मैं भी
बहुत समय से
शब्दों के पारदर्शी
बर्फीले गुब्बारे
बना-बना कर
हवा में फेकता रहा हूँ,
पता नहीं
कहीं पहुँचने से पहले ही वे,
सूरज की ऊष्मा से
पिघलकर बह गये
या किसी बूढ़े जर्जर पेड़ की
बिखरी जटाओं में समा गये
या फिर
किसी चट्टान की दरार से झाँकते
मंदार के बिरवे के पैरों में
आ गिरे?

नहीं जानता
क्या हुआ उनका,
पर इतना अवश्य जानता हूँ कि
मेरा सैलाब
बाहर नहीं निकल सका
और मैं
निर्वासित यक्ष की तरह
मुक्ति की चिर-प्रतीक्षा में
अनवरत अनभिव्यक्त
भरा का भरा ही रह गया।
कितने लाचार हैं
ये शब्द!
क्या कभी कह पायेंगे वह सब
जो अब भी मेरे भीतर
लावे की तरह
उमड़ता रहता है?

सचमुच
शब्द कभी कभी
बिल्कुल निःशब्द हो जाते हैं
और शायद
यही उनकी विवशता है
यही उनकी सीमा है
जिसे पार करने के लिए
उन्हें स्वयं आँसू बनना होगा
अन्याय बनना होगा
क्रान्ति बनना होगा
और जिस दिन ऐसा होगा
शब्द केवल शब्द नहीं रह जायेंगे
अर्थ बन जायेंगे
और उस दिन मैं
चुप हो जाऊँगा।

□

खुली हवा में

बन्द कोठरी

यह सोचकर –
कि वर्षा हो जाने के बाद
ठंढी हवा भीतर आयेगी
मिट्टी की सोंधी नमी
मेरे रन्ध्रों में भर जायेगी
और मैं हल्का हो जाऊँगा –
मैंने घर के सारे खिड़कियाँ दरवाजे
खोल दिये हैं
किन्तु भीषण गर्मी के कारण
अदृश्य चीटियाँ
मेरे रोम-रोम में रेगने लगी हैं
मैं पसीने-पसीने नहा गया हूँ
और मेरा दम घुटता सा लग रहा है।

तभी किसी की आहट सुनाई देती है
मैं उठकर
बाहर की ओर भागना चाहता हूँ
किन्तु पाता हूँ कि
मैं तो अपने ही घर की
एक छोटी सी कोठरी में बैठा हूँ
जो बाहर से बन्द है।
मैं भीतरी कुंडी
जोर-जोर से
बार-बार खटखटाने लगता हूँ
और चिल्लाने लगता हूँ
ताकि कोई आकर
मुझे बाहर निकाल ले,
किन्तु कोई उत्तर नहीं
केवल निपट सन्नाटा
सिवा उस आहट के
जो पल-पल पास आती जा रही है

और मेरे भीतर समाती जा रही है
मैं पूरी शक्ति लगाकर
अपने शरीर से
उस किवाड़ को बार-बार
धक्का देने लगता हूँ
आहट अब और भी पास
आती जा रही है
मेरी चेष्टा जारी है
और एक पल्ला टूटकर
गिर जाता है

मैं बाहर निकलकर
भागता चला जाता हूँ
निर्वाध निर्द्वन्द
और अब स्पष्ट दिखाई देने लगा है
सामने एक खुला मैदान
हवाओं का समुद्र
स्वच्छन्द उन्मुक्त
और मैं लम्बी-लम्बी
साँसें भरने लगता हूँ।



लाल पलाश

आ गये हैं
फ़िर वही दिन,
बोझिल - गुमसुम –
जब मेरा मन
निपट उदास हो जाता है
दूर कहीं
गिरजे की घंटियों के साथ,
महोक की आवाज
सुनाई पड़ती है
गली के नुक्कड़ से
आटे की चक्की के
फक-फक के स्वर
उठने लगते हैं,
और इस छोटे से कस्बे की
सूनी शाम के धुँधलके को
चीरती हुई रेलगाड़ी,
सीटी बजाती
निकल जाती है,
लगता है
मेरा स्टेशन कहीं पीछे ही,
छूट गया है
या फिर गाड़ी मुझे
पीछे ही छोड़कर
आगे निकल गई है।

अब तो
यहीं लोहे की ठंढी बेंच पर
बैठे रहना है
मन के आहत
महाद्वीपों की सलवटों को
सहलाते हुये

उन दिनों की प्रतीक्षा में
जब जाड़ों की बर्फ
पहाड़ों से उतरेगी,
मेरे इस कस्बे के
चारों ओर
फैल जायेगी
और यह सूने दिन,
किकियाता महोक,
हरहराती गाड़ी
सब डूब जायेंगे
उसके विस्तार में
और फिर एक बार
खिल उठेगा
लाल पलाश
मेरे पैरों के नीचे
उग आये
पत्थरों के ऊपर।



सड़क का अन्त

यहीं कहीं एक सड़क है
जो मेरे घर से दिखाई देती है
और बाजार / मदिरालय
अस्पताल / मन्दिर होती हुई
मरघट की ओर जाती है,
हम सब दिन-रात
इस पर आते-जाते रहते हैं
दिन भर बाजार गर्म रहता है,
शाम होते ही
मदिरालय के द्वार
खुल जाते हैं
और देर रात गये
गहमा गहमी लगी रहती है
कभी कभी
बीमार पड़ने पर
अस्पताल के मैले
बिस्तरे पर लेटे लेटे
नाबदान के पानी के
रंगों वाली दवाइयाँ
पीनी पड़ती है,
यदा-कदा
रात के सन्नाटे में
मंदिर के घंटे भी
सुनाई दे जाते हैं
और जब तब
'राम नाम सत्य है' के मन्त्रोच्चार के साथ
चार कंधों पर लदकर
कोई मरघट की ओर
चला जाता है

मैं हर सुबह

यह निश्चय कर
निकलता हूँ
कि आज सड़क का अंतिम छोर
छूकर आऊँगा
परन्तु हर रोज
निरन्तर चलते चलते
शाम घिर आती है
और मैं लौट आता हूँ
बिना यह जान पाये ही
कि यह सड़क
इसके आगे और कहाँ जाती है,
बाजार खुलते बन्द होते रहते हैं
मदिरालय में भीड़ बढ़ती जाती है
मंदिर के घंटे बजते जाते हैं
और मरघट निगलता जाता है
दिन पर दिन समूचे आदमी को।

मुझे भी जाना है एक दिन वहीं
जहाँ हर कोई जाता है
पर कुछ पता नहीं
वहाँ पहुँच कर भी
छू पाऊँगा भी उस छोर को
जहाँ इस सड़क का अन्त हो जाता है।

नये सूर्य की प्रतीक्षा

घने काले जंगल में
हाथी की तलाश करने निकले हैं
मदान्ध महावत –
क्या कभी तलाश पूरी होगी?
नित्य हत्याएं करते फिरते हैं
दूब से सुकोमल खरगोशों की,
उपत्यकाओं की छाती से
बहती है शान्त नदी
पानी लाल हो जाता है
बेबस प्राणियों के रक्त से
जिन्होंने अपने कमजोर कंधों से
बनाने की कोशिश की थी
एक श्वेत सुरक्षित दुर्ग।

मरणासन्न अभिमन्यु पुकारता है
अनवरत अपने बान्धवों को
अपमानित द्रौपदी का रुदन
बेधता है सारे जंगल को
सभी ने घुटने टेक दिये हैं
बर्बरता के नये मान-दण्डों के आगे।

कौन राह दिखायेगा
इस घुप्प अधेरें में?
कौन ज्योति देगा
इन दिगभ्रमित महावतों को?
और इधर
रंगबिरंगी पताकाएं थामे
नारे लगाते घड़ियालों का झुण्ड
निगलता जाता है धीरे धीरे
खुले आम हरीतिमा को –
चारों ओर चीत्कार करता है,

विवश समर्पण का सन्नाटा,
कीलों से ठोंक कर
टांग दी गई है सलीबों पर
विरासत में मिली सभ्यताएं।

कोई बात नहीं, मेरे भाई!
बहने दो रक्त कुछ दिन
होने दो उत्पात और भी;
आखिर घड़ा तभी फूटता है
जब पूरा भर जाता है
ऐसा मैंने बड़े बूढ़ों से सुना है;
इसलिए मुझे प्रतीक्षा है
ज्वलामुखी के गर्भ से
फूटने वाले नये सूरज की।



बचानी होगी आग

भयंकर अंधकार है
क्या करे आदमी
सूझता नहीं हाथों को हाथ,
दहकती है केवल आग
निरन्तर भीतर ही भीतर
अँधेरे की आँखें
चुँधियाने लगती है।

तर्ककुर्तकों ने
बेंध डाली अलसायी हवा,
दंभ के हथौड़ों ने
पीट डाले आश्वस्त पल
भर गया है सन्नाटा चारों ओर
अन्धें कुएं सा
देखते देखते।

बार-बार
आत्म-सम्मान/प्रतिष्ठा के
भारी-भरकम शब्द
फेंक रहे हैं
उस तरफ खड़े लोग
डाल रहे हैं चारा
अपनी बातों के पक्ष में
अँधेरे में फँसे
भूखे नंगे आदमियों को।

जो हो,
बचानी होगी आग
जीना होगा
उस दिन के लिए
जब अँधकार
छट जायेगा।



सब शून्य नहीं

मेरा भ्रम
ऐसे जियेगा आदमी
असीम की ओर

मेरा भ्रम

मौलिश्री के पेड़ के नीचे
फैली चाँदनी ने
जब मेरे मस्तक को
धीरे से छुआ था
तब मुझे लगा था
जैसे तुम आ गये हो
किन्तु सदा की तरह
यह मेरा भ्रम ही था,

उसके बाद
कितनी ही बार
मन्दिर के भीतर
आरती के बीच
शंख-ध्वनियों के
लोम हर्षक क्षणों में
फिर मुझे लगा था
जैसे तुम पीछे खड़े हो
किन्तु वह भी भ्रम ही था
सदा की तरह
और मैं
एक भ्रम से दूसरे भ्रम में
आता जाता रहा
और पता नहीं
कितना समय
यूँही निकल जाता
यदि उस दिन
भरे बाजार में
फेंके हुये जूठे पत्तों से
अवशिष्ट खाद्यान्न बिनती हुई
फटे हाल तरुणी के साथ
अश्लील छेड़ छाढ़ करते

कुत्सित मनोवृत्ति वाले
नौनिहालों के आगे
लज्जावनत होकर
असहाय मुद्रा में
उसने आकाश की ओर
अपनी दोनों भुजाएँ
फैला न दी होती
और उसी के तुरन्त बाद
गड़गड़ाते बादलों
और चमकती बिजलियों के साथ
तेज वारिश न होने लगी होती
जिससे बचने के लिए
नौनिहालों की सेना स्वतः
भीतर न भाग गयी होती
और वह अबला
उसी वारिश में
निश्चिन्त मन से
जूठे भोजन के दाने
और भी बारीकी से
समेटने न लगी होती।

सचमुच तब लगा था
पानी की हर बूँद में
तुम्हारे ही पैरों की आहट
छमछम करती आ रही थी
सच कहूँ! इस बार
मेरे भीतर कोई भ्रम नहीं था।



ऐसे जिएगा आदमी

कैसे और कबतक
जिएगा आदमी
आशा की नदी पी पी कर?
संग्राम छिड़े हुये
बहुत देर हो गई है,
सुरक्षा के सारे अस्त्र भी
अब समाप्त हो चुके हैं
अब दौड़ पाना
कठिन होता जा रहा है।
सुना है शान्ति के प्रयास में
कुछ लोग अब भी लगे हैं
क्योंकि देश उन्हीं को चलाना है –
देखना है क्या होता है?

एक युद्ध इधर भी जारी है
जिसके केवल वे साक्षी हैं
जिन्होंने नावों में बैठकर
यात्राएं की थी
और अज्ञात द्वीपों से
फेंके गये विषैले
दो मुहे खंजरों को झेला था –
आदमी कैसे जिएगा
इतने संग्रामों / युद्धों के बीच?
तर्क किसी बात का उत्तर नहीं –
अब बहस बहुत हो चुकी
बुनियादी मुद्दों पर –
हो सके तो बन्द कर दो
यह आँख मिचौली
और बैठ जावो
मिट्टी से लिपे आँगन में
जहाँ तुलसी के चौरे के पास

जल रहा है अब भी एक दिया।
कुछ देर रुको जरा,
पिछवाड़े की पंछुआ बयार
तुम्हारे ही सामने
रात-रानी की सुगन्ध
बिखरने लगेगी।

आदमी जिएगा ऐसे ही!
और चाहिए भी क्या –
मिट्टी से लिपे आंगन की महक
दिये की मद्धिम रोशनी,
और महकती पंछुआ बयार से अधिक
कौन दे पाएगा संजीवनी
मर-मर कर जीते आदमी को।
सचमुच ऐसे ही जिएगा आदमी।

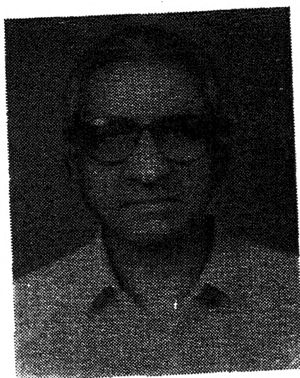


असीम की ओर

कितना रो लूँ
कितना बिलख लूँ
पैरों में गड़ी पुरानी फाँस सा
कुछ न कुछ रह ही जाता है खरकता
और वही कभी कभी
विशाल बड़वानल बन कर
मेरी समूची काया को
झुलसाने लगता है,
किसी अँधेरे कोने में
एकाकी बैठ कर
व्यर्थता की नदी का
कसैला जल पीता जाता हूँ,
पुरानी यात्राओं के सम्बल,
विपदाओं के ज्योति-स्तम्भ,
झमझम करके
धराशायी होने लगते हैं,
मज्ज़ा से जुड़ी आस्थायें
भूत-वर्तमान-भविष्य के
असम्बद्ध संदर्भो की भँवर में
डूबने उतराने लगते हैं।

सच कहूँ,
उन क्षणों में मैं
वाह्य संसार की चेतना से
परे हट कर
निपट अकेला हो जाता हूँ,
यहाँ तक कि
मेरे बहुत अपने और पराये
कोई भी
मुझे स्पर्श नहीं कर पाते।
क्या यही शुरुआत है,
उस प्रार्थना की
जो असीम की ओर जाती है।





नाम : गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव

पिता का नाम : स्व. श्री हनुमान प्रसाद

जन्म तिथि : ६ अक्टूबर, १९४१

जन्म स्थान : सुल्तानपुर (उ.प्र.)

स्थायी पता : सत्यार्थ १९/९

थार्नहिल रोड, इलाहाबाद।

शैक्षिक योग्यता : एम.ए.,एल.एल.बी.

सम्प्रति : प्रधान महालेखाकार,

उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद।

प्रकाशित रचनायें: साहित्यकार सहयोगी प्रकाशन, भदैनी, वाराणसी द्वारा प्रकाशित 'काव्य भारती', प्रयाग की साहित्यिक संस्था 'दिशा' द्वारा प्रकाशित "दिशाविद" और सहयोगी मुद्रण प्रकाशन, नागावासुकी, दारागंज, इलाहाबाद द्वारा प्रकाश्य काव्य संकलन में संकलित कविताएं ; प्रयाग की साहित्यिक संस्था "दिशा" "अरुणिमा" और "शलभ" के संरक्षक ; आकाशवाणी से कविताओं तथा कहानियों का नियमित प्रसारण ; विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताओं के अतिरिक्त निबन्ध तथा साहित्यिक एवं अध्यात्मिक शोधपूर्ण लेख और कहानियों का प्रकाशन।